अभी समर शेष है

कर्जे की राजनीति, पूँजी का खेल
पर्दे में गुप-चुप षडयंत्रों का मेल
देखो-देखो बौराये शासन की पेशकश -
राजे कहें पास हुई, जनता कहे फेल
कर्जे की राजनीति पूँजी का खेल
सेठों को मालपुआ, श्रमिकों को जेल

- शील

प्रफुल्ल कोलख्यान

आज जीवन एक गहरे बदलाव के दौर से गुजर रहा है। बदलाव की इस प्रक्रिया में सबकुछ शामिल है। यह बदलाव जीवन के सिर्फ राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में ही नहीं आ रहा है, बल्कि जीवन का पूरा पर्यावरण ही बदल रहा है। इस पर्यावरण में मनुष्य की बनाई मानवीय दुनिया और मनुष्य को प्राप्त प्राकृतिक दुनिया दोनों ही शामिल हैं। मनुष्य की दुनिया के बदलाव से प्रकृति की दुनिया भी अछूती नहीं है। इसलिए इस बदलाव को सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ प्रकृति के आंतरिक संयोजन में होनेवाले बदलाव के रूप में गंभीरता से सोचने और समझने की पहल का अपना महत्त्व है। गति, चाहे वह मनोगति हो या वस्तुगति ही क्यों न हो, की प्रक्रिया में द्वंद्व का बहुत बड़ा हाथ होता है। द्वंद्व शुभ और अशुभ का, सुपथ और कुपथ का, प्रकाश और अंधकार का। तीव्र बदलाव की इस क्षिप्र प्रक्रिया का प्रभावी तत्त्व सुपथ, शुभ और प्रकाश से विनिर्मित नहीं है। बदलाव की इस प्रक्रिया में कुपथ, अशुभ और अंधकार की बहुत बड़ी भूमिका है। यही हमारी चिंता का विषय है। बदलाव की इस तीव्र गति को प्रभावी ढंग से मंद करना या पूरी तरह से रोकना न तो काम्य है और न हितकर है। हाँ, इसे अपेक्षित मोड़ अवश्य ही दिया जा सकता है। गंभीरता से सोचे-समझे बिना इस बदलाव की गति में अपेक्षित मोड़ देने, उसके अंदर मनुष्योपयोगी संदेश (स्पेस) बनाये रखने या नये सिरे से बनाने, उसे सकारात्मक ढंग से मानवीय जरूरतों और आकांक्षाओं से जोड़े रखने तथा विश्व स्तर पर इस दिशा में किये जा रहे प्रयासों से अपने प्रयासों को जोड़ने में हम कामयाब नहीं हो पायेंगे। गंभीरता से सोचने समझने के लिए मनुष्य के पास ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक प्रयासों से अर्जित बहुत सारे प्रभावी उपकरण हैं। ये उपकरण हमारे लिए बदलाव की इस आँधी में भी बहुत उपयोगी हैं। इन उपकरणों में कुछ जोड़-घटाकर उपस्थित प्रयोजन के अनुसार नये उपकरण भी तैयार किये जा सकते हैं। आशा की बात है कि इस दिशा में बौद्धिक-सामाजिक मानवीय सक्रियता जारी है। इस नई बौद्धिक-सामाजिक मानवीय सक्रियता में हिंदी के भाषा-समाज की भी शिरकत की जरूरत को अलग से रेखांकित करने की जरूरत नहीं है। ध्यान में यह तो होना ही चाहिए कि बोलनेवालों की दृष्टि से दुनिया की बड़ी भाषाओं में हिंदी भाषा-समाज का स्थान दूसरा या तीसरा भले ही हो अवहेलित और बंचित मनुष्यों की दृष्टि से दुनिया की सब से बड़ी जमातों में हिंदी भाषा-समाज का स्थान पहला ही है। इस बात की भी गुंजाइश को स्वीकारना चाहिए कि विपुल भौगोलिक वैविध्य, सांस्कृतिक वैचित्र्य की अंतर्धाराओं, ऐतिहासिक संघातों, विकास की आँधी की नाभिकीयता से कुछ हद तक अपेक्षित दूरी पर रहने के कारण इसके अनुभव और पहल न सिर्फ भारत के अन्य भाषा-समाजों के लिए बल्कि दुनिया के सभी बंचित जमातों के लिए अनुकरणीय हों न हों उपयोगी तो अवश्य ही

हो सकते हैं।

सभ्यता और संस्कृति में स्वाभाविक गतिशीलता होती है। इस गतिशीलता को प्रगतिशीलता में बदलने की कोशिश भी जारी रहती है। इस गतिशीलता और प्रगतिशीलता से उत्पन्न बदलाव में स्वाभाविक क्रमिकता होती है। इस क्रमिकता के कारण सभ्यता में संघात को झेलने के लिए अंदरूनी लोच बनी रहती है। इस लोच के कारण बदलाव के सामाजिक समायोजन के लिए समाज में अपेक्षित मन:स्थिति के पुनर्संयोजन का समुचित अवसर बनता है। लेकिन इस बार का बदलाव क्रमिक नहीं है। इसलिए सामाजिक समायोजन के लिए समुचित अवसर कम है। वैसे तो पूरी भारतीय सभ्यता और संस्कृति में आंतरिक गतिशीलता धीमी रफ्तार रही है, लेकिन अपने हिंदी समाज में यह गति और भी धीमी रही है। संघात को झेलने के लिए अंदरूनी लोच बनाये रखनेवाले उपकरणों का बोझ ही बहुत अधिक होता है। बदलाव की क्रमिकता में इतनी जटिलताएँ और इतने पायदान बन जाते हैं कि कोई बदलाव अपने होने में भी बदलाव के रूप में दर्ज ही नहीं हो पाता है। इसलिए बदलाव की हवा के रुख का आशय पढ़ने में भी यह अक्सर पिछड़ जाता है। पूरे विश्व में इस समय बदलाव की जो आँधी बह रही है, उससे उत्पन्न होनेवाले संघात से हिंदी समाज के ढाँचे में विन्यस्त अच्छे और बुरे के रचाव के ध्वस्त होने का खतरा तो कम है लेकिन पिछड़ जाने का खतरा पहले से कहीं अधिक है। इस समय हिंदी समाज को पिछड़ेपन के किसी भी आसन्न खतरे की चुनौती का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए संघात की आशंका से भीत हुए बिना इस बदलाव की गुत्थियों को धैर्यपूर्वक समझने की तैयारी करनी चाहिए। ध्यान में होना ही चाहिए कि सफलता के लिए जरूरी होता है अपने शोक को शक्ति में बदलने का कौशल अर्जित करना। हिंदी समाज के पास शोक के अवसर बहुत हैं। जरूरत है शोक को शक्ति में बदलने के कौशल को अर्जित करने के लिए बौद्धिक उत्साह और उसे बरतने के लिए सार्थक सामाजिक साहस की।

अनुभवसिद्ध बात है कि अर्थ का निजी स्वभाव ऊर्ध्वगामी होता है। जब तथाकथित नई अर्थनीति का भारत में प्रारंभ हो रहा था उस समय 'ट्रिकिल डाउन' सिद्धांत की बड़ी चर्चा थी। इस सिद्धांत के अनुसार अर्थ का रिसाव नीचे की ओर होने को स्वाभाविक बताया जाता है। यह आजकल चर्चा में नहीं है। दुनिया में परम अमीरी और परम गरबी के बीच बढ़ती भयावह खाई दुनिया की विभिन्न सामाजिकताओं के लिए आत्महत्या की घाटी बनती जा रही है। `ट्रिकिल डाउन' सिद्धांत के विपरीत अर्थ का वाष्पीकृत होकर ऊपर पहुँच रहा है और कभी न बरसनेवाले बादल के रूप में घनीभूत हो रहा है। इस बादल में पानी एक बूँद नहीं हैं, बिजलियाँ बारूदी सुरंगों की तरह बिछी हैं! सब्यसाची भट्टचार्य `आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास' लिखते हुए 1902 में प्रकाशित इंगलेंड की लेबर पार्टी से जुड़े जॉन हाब्सन की किताब `साम्राज्यवाद' की चर्चा करते हैं। इस पुस्तक में बताया गया है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रम-शक्ति के पास अपेक्षित आय नहीं पहुँच पाती है। ऐसे में स्वाभाविक ही है कि उनकी क्रय क्षमता कम होती है। राष्ट्रीय आय के असमान वितरण के कारण विशाल जनसंख्या के पास भी क्रय क्षमता नहीं बन पाती है। इस के कारण उपभोक्ता वस्तु की देशी खपत में भारी गिरावट आती है, इसे हाब्सन ने `अल्प उपभोग' के रूप में चिह्नित किया था। राष्ट्रीय आय के इसी असमान वितरण के कारण पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ता है और पूँजी केंद्रीकृत होती है। इसे हाब्सन `अतिसंचय' की स्थिति कहते हैं। आज के इस बदलाव की आँधी के मूल में उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के प्रभाव से बनी `अल्प उपभोग' और `अतिसंचय' की स्थिति का योगदान सहज ही समझ में आ जाता है। भूलना नहीं चाहिए की ऐसी ही स्थिति में पूँजी के स्वार्थ की टकराहट से अंतत: राष्ट्रों के बीच युद्ध का जन्म होता है। ध्यान में रखना चाहिए कि राष्ट्रों के बीच होनेवाले किसी भी युद्ध की आशंका से बचने के लिए राष्ट्रों के स्थान पर कॉरपोरेटों को स्थापित करने से युद्ध की आशंका खत्म नहीं होती है, अधिक से अधिक उसका रूप बदल जाता है। यह बदला हुआ रूप विश्वयुद्ध के स्थान पर उससे भी अधिक खतरनाक विश्व-गृह-युद्ध को आमंत्रित करता है। क्योंकि इस स्थिति में समस्या दो राष्ट्रों के बीच न रहकर एक ही राष्ट्र और एक ही सामाजिकता के विखंडित हित समूहों के बीच की आपसी टकराहट के रूप में उभरती है और इस टकाराहट को रोकने के लिए न तो राष्ट्रों की भौगालिक सीमाएँ काम आती हैं और न सामाजिकताओं के

सांस्कृतिक-आवरणों के बीच विकसित आत्मबद्धता का सुरक्षा-कवच ही काम आता है। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण विकास का बहुत बड़ा नेपथ्य तैयार करता है। विकास के इस नेपथ्य के पीछे विशाल जनता के आर्तनाद की अनसुनी करने से घनीभूत होता हुआ दुख सभ्यता के किसी भी संघात में विस्फोटक का काम करेगा। कहने की जरूरत नहीं है कि सभ्यता को परमाणु विस्फोटक से जितना भय लग रहा है उससे कम भय दुख विस्फोटक से नहीं लगना चाहिए। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि पूँजीवादी विकास की वक्रताओं से ही आतंकवाद के तर्क का जन्म होता है और इस आतंकवाद के खतरों से निपटने के लिए राजकीय आंकवाद को भी तार्किक आधार मिलता है। इसे पूरे प्रकरण में जीवन भंगुर हो जाता है। जीवन का जो सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व क्षरित होता है उसे हम लोकतांत्रिक ढाँचे और अंतर्वस्तु के नाम से पुकारते आये हैं। इस क्षरण से लोकतांत्रिक ढाँचे और लोकतांत्रिक अंतर्वस्तु में भयानक आत्मसंकोच होता है और अंतत: ऐसे सामाजिक ब्लैकहोल का जन्म होता है जिसे हम फासीवाद के नाम से जानते हैं। आज के जीवन में ऐसे सामाजिक ब्लैकहोल का विस्तार हो रहा है।

भारत के संदर्भ में देखें तो अपनी पुस्तक `इंडिया अनबाउंड' में पूँजीवाद और लोकतंत्र पर विचार करते हुए गुरूचरण दास राजनीतिशास्त्री अतुल कोहली के हवाले से कहते हैं कि भारत में लोकतांत्रिक संस्थाएँ इसलिए कमजोर हैं कि लोकतंत्र यहाँ ऊपर से नीचे आया है, नीचे से ऊपर नहीं गया है। ध्यान देना चाहिए कि इस तरह के कथन में सचाई का अंश बहुत कम है और यह कथन स्वतंत्रता के लिए हुए राजनीतिक आंदोलनों के संदर्भ में अधिक सही बात को रेखांकित नहीं करता है। `ऊपर' इतना उदार कभी नहीं होता है कि `नीचे' को इतना बड़ा उपहार दे दे! लोकतांत्रिक संस्थाओं के कमजोर होने का मुख्य कारण स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान विकसित मानवीय, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों की जीवंतता एवं उपयोगिता के प्रति आस्था को बनाये रखनेवाले नेतृत्व की गुणवत्ता में तेजी से गिरावट आने और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए द्वितीय स्तर (सकेंड लाइन) पर सक्षम राजनीतिक नेतृत्व का नहीं होना है। जिन क्षेत्रों में नेतृतव की गुणवत्ता में गिरावट की गति धीमी रही है या द्वितीय स्तर पर सक्षम नेतृत्व उपलब्ध था उन क्षेत्रों की संस्थाओं की लोकतांत्रिकता और लोकतंत्र की संस्थानिकता दोनों में अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक मजबूती को सहज ही रेखांकित किया जा सकता है।

एक बार इस आँधी की शुरुआत को ध्यान में लाना जरूरी है। इस आँधी की शुरुआत को ध्यान में लायें तो इसके मूल में दो शब्दों को हवा में तैरते हुए सहज ही लक्षित किया जा सकता है; वे दो शब्द हैं, `ग्लास्तोनोस्त' और `पेरिस्त्रोइका'। मिखाइल गोर्बाचोव के द्वारा रूसी भाषा के इन दो शब्दों का इस्तेमाल करने से इस आँधी की तीव्रता को आकार मिलना शुरू हो गया। उत्पादन की पद्धति और उसके लाभ के सामाजिक वितरण की प्रक्रिया के अनिवार्य विधायक तत्त्वों में धन-शक्ति के साथ और समकक्ष श्रम-शक्ति के लिए भी स्थान बनने से सभ्यता और संस्कृति की आधारभूत संरचना के आत्मसंतुलन में पूँजीवादी मनसा के एकाधिकार का स्थान संकुचित होता गया था। एकाधिकार के अभाव में कई बार पूँजीवाद को अपने स्वाभाविक परिपथ में दुनिर्वार विचलन को स्वीकारना पड़ता था। यह विचलन पूँजीवाद के अहं को बहुत ही आहत करता था। पूँजीवाद के इस आहत अहं को `ग्लास्तोनोस्त' और `पेरिस्त्रोइका' के नाम की संजीवनी मिल गई। मिथकीय मान्यता है कि संजीवनी विद्या के गुरू शुक्राचार्य थे। वे देवताओं से लड़ने के लिए मृत राक्षसों को अपनी इस विद्या का प्रयोग कर जिला दिया करते थे। मिथ के पेंच में उलझने का समय यह नहीं है। आशय सिर्फ यह उल्लिखित करने का है कि संजीवनी तो हत को भी जिला देती थी, पूँजीवाद तो फिलहाल सिर्फ आहत ही था।संजीवनी पाकर पूँजीवाद न सिर्फ उठकर खड़ा हो गया है बल्कि दुनिया को एक ध्रुवीय बनाने पर तुला हुआ है। ध्यान में रखने लायक बात यह है कि सभ्यता और संस्कृति की दुनिया के दो ध्रुव हैं - पूँजी और श्रम। इस दुनिया को एक ध्रुवीय बनाने का मतलब है श्रम की समकक्ष स्वायत्तता को पूरी तरह से पूँजी के वर्चस्व के अधीनस्थ कर देना। ऐसा करते हुए पूँजीवाद को साम्राज्यवाद का सभाविक साथ मिलता है। यह कोई नई बात नहीं है। रवींद्रनाथ ने अपने समय में पूँजीवाद के साम्राज्यवाद से गंधर्व-विवाह के रूपक में दोनों के बीच के रिश्तों को रेखांकित किया था। वर्तमान समय में पूँजीवाद

बड़ी तेजी से श्रम-शक्ति के समाजवादी दबाव में आकर अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए स्वीकारे गये विचलन को दूर करने पर केंद्रित है। प्रसंगवश, रूसी समाजवाद के पतन में उसकी अंदरूनी स्थिति का बड़ा हाथ तो था ही लेकिन विश्व में समाजवाद के व्यापक प्रसार के घटित न हो सकने का कितना बड़ा असर था, यह विश्लेषण आज बहुत ही जरूरी है। बहरहाल यह कि आवारा वित्तीय पूँजी के नवोन्मेष से उत्साहित बदलाव की इस आँधी में शुभ नहीं है। सभ्यता और संस्कृति में जिस शुभ-चक्र की तलाश आज सभ्यता और संस्कृति को है उस शुभ-चक्र के बनने की कोई गुंजाइश इस बदलाव में है ही नहीं। यह बदलाव तो नये-नये अशुभ को जन्म देनेवाला है। बात साफ है कि श्रम-शक्ति को धन-शक्ति का अधीनस्थ बनाना असल में जन-शक्ति को धन-गुलाम बनने की ही कबायद है। किसी बहुत ही लंबी तर्क शृँखला में गये बिना भी इतना तो सहज ही समझ में आता है कि पूँजी के वर्चस्व का मतलब पूँजी पर जिनका नियंत्रण है उनके वर्चस्व से है और श्रम के वर्चस्व का मतलब श्रम जिनके जीवन और अस्तित्व का आधार है उनके वर्चस्व से है। इसलिए मानव विकास रिपोर्ट - 2002 जब यह रेखांकित किया जाता है कि आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी रूप से दुनिया इतनी मुक्त कभी नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण तो इससे पूँजी और श्रम के अंतराल की खाई के कारण बननेवाले अन्याय के नये प्रक्षेत्रों का भी साफ-साफ संकेत मिलता है। `है जिधर अन्याय, है उधर शक्ति' तो दगा करनेवाली इस सभ्यता और संस्कृति का पुराना रोग है। सभ्यता और संस्कृति इस पुराने रोग से मुक्त हो यह बहुत जरूरी है। मगर यह होगा कैसे? इस विकट प्रश्न के हल के लिए जिस सांस्कृतिक पुनर्निमाण की जरूरत है उसका रास्ता भी इसी बदलाव के बीच से निकल सकता है, शर्त यह कि श्रम-शक्ति के महत्व को समझने और माननेवाले धैर्य के साथ अपने दायित्व को समझें और उसके निर्वहन की ऐतिहासिक जरूरत को अच्छी तरह से समझ लें।

सब से पहले, पूरी दुनिया में बहाई जा रही और बह रही बदलाव की इस आँधी की बनावट पर ध्यान देना चाहिए। इससे इसका स्वभाव स्पष्ट हो सकेगा। आगे बढ़ने के पहले यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक ही होगा कि मनुष्य से जुड़े सवाल अपने अंतिम विश्लेषण में मूलत: सभ्यता और संस्कृति के संश्लेष से जुड़े हुए सवाल ही होते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि सभ्यता और संस्कृति के संश्लेष के बनने में अर्थ की केंद्रीय भूमिका होती है और संपूर्ण अर्थनीतिक वातावरण और पूँजी-संचलन उत्पादन की पद्धति और उसके लाभ के सामाजिक वितरण की प्रक्रिया से विनिर्मित होती है। किसी भी समय में सभ्यता और संस्कृति में होनेवाले बदलाव का गहन संबंध उत्पादन की पद्धति और उसके लाभ के सामाजिक वितरण की प्रक्रिया से होता है, आज के बदलाव का भी गहन संबंध इसी से है। स्वभावत: इस बदलाव को पहचानने के लिए जरूरी है कि उत्पादन की पद्धति और उसके लाभ के सामाजिक वितरण की प्रक्रिया के अंत:करण को समझा जाये। अपने स्वभाव से सत्ता यथास्थितिवादी और जनता पविर्तनकामी होती है। सत्ता को किसी तरह का बदलाव भाता नहीं है। बदलाव हमेशा सत्तावीहीन साधारण जनता माँगती है क्योंकि उसके पास जो होता है पाने के लिए ही होता है खोने के लिए जीवन की बिडंबनाओं के अलावे होता ही क्या है! सत्ताधारी सत्तावान विशिष्ट जनता के पास जीवन के सारे भौतिक सुख होते हैं जिनके खो जाने का डर हमेशा बना रहता है और पाने के लिए कुछ होता नहीं है। इन दोनों तरह के लोगों के बीच एक बड़ी जमात ऐसे लोगों की होती है जिनके पास खोने के लिए भी कुछ होता है और पाने के लिए भी कुछ होता है। इनके अंतर्मन में भारी अंतर्द्वंद्व चलता रहता है। क्या खोयें क्या पायें के चयन-संकट के बीच भारी मानसिक दबाव और तनाव से ये गुजरते रहते हैं। कान की चिंता में कौआ के पीछे दौड़ते रहनेवाले इस वर्ग के लोग विकल्पों की तलाश में सर्वाधिक विकल रहते हैं। विकल्पहीनता का ढोल भी सबसे ज्यादा यही पीटते हैं। पूरी दुनिया में शिखर से प्रारंभ होनेवाले बदलाव की इस प्रक्रिया का विरोध हो रहा है। जो लोग `टिनावाद' (TINA = There Is No Alternative) का टिना पीटते हुए अपनी धुन में गगन खाकर मगन हैं उनके लिए मानव विकास रिपोर्ट -2002 (HDR-2002) की यह टिप्पणी आँख खोलनेवाली हो सकती है , `लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में लोकतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं।हाल के दिनों में औद्योगिक और विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में भूमंडलीकरण विरोधी अभियान में यह नया यथार्थ उभर कर सामने आया है। हलांकि, इनके

विभिन्न रूप हैं और विभिन्न कार्यसूचियाँ हैं फिर भी एक बात पर इनमें साम्य है कि विश्व के गरीब लोगों की समस्याओं के लिए विश्व संस्थाएँ और विश्व नेता जबावदेह हैं। इसे आपातकालीन समस्या माननेवाले ये विरोधी अकेले नहीं हैं।' लोभ और भय दोनों की स्थिति मध्यवर्ग के भीतर अपनी चरम सक्रियता के साथ बनी रहती है। भारत में इधर मध्यवर्ग का आकार बढ़ा है। इनके चरित्र में भी तात्त्विक अंतर आया है। `इंडिया अनबाउंड' में गुरूचरण दास बदलाव का लक्षण दर्शाते हुए कहते हैं कि पुराने मध्यवर्ग के आधार में शिक्षा और प्रतिभा थी जब कि नये मध्यवर्ग के आधार में पैसा है। अस्सी साल पहले इसके आदर्श राष्ट्रवादी गोपाल कृष्ण गोखले और लोकमान्य बालगंगाध तिलक थे। पचास साल पहले तक महात्मा गाँधी और जवाहर लाल नेहरू थे। आज के आदर्श कारोबार का साम्राज्य खड़ा करनेवाले अंबानी और अजीम प्रेमजी हैं। इन्हें मध्यवर्ग क्यों कहा जाता है? क्या इसलिए कि पूँजी और श्रम के सामंजस्य और तनाव में इनका स्वार्थ मध्य पर अवस्थित होता है। ये किसी भी बदलाव में डरते-डरते भी भारी भूमिका अदा करते हैं। परिस्थिति के अनुरूप, नीचे से बदलाव की माँग का दबाव बढ़ने और ऊपर से सहज ही स्वीकार न किये जाने की स्थिति में, यह भूमिका नकारात्मक भी होती है और सकारात्मक भी होती है, मगर होती जरूर है। बदलाव की यही जानी पहचानी प्रक्रिया रही है। बदलाव की जो हवा अभी चल रही है वह इस जानी-पहचानी प्रक्रिया से बाहर की है। इस बार बदलाव की माँग ऊपर से उठी है, सत्ता बदलाव चाहती है। नीचे इसे सहज ही स्वीकार नहीं किया जा रहा है। सत्ता के बदलाव और जनता के बदलाव में अंतर है। इस समय सत्ता की चाह ही बदलाव को राह दिखा रही है। सत्ता की इस चाह को समझना होगा। इसके लिए सत्ता की सभ्यता और संस्कृति की बनावट को भी समझना जरूरी है।

सभ्यता और संस्कृति में दो प्रकार के तत्व होते हैं - चर मूल्य (variables)और अ-चर मूल्य (constants)। इन्हें स्थाई मूल्य और संचारी मूल्य भी कहा जा सकता है। चर मूल्य अपेक्षाकृत तेजी से बदलते हैं और अ-चर मूल्य मूलत: बदलते ही नहीं हैं, बहुत हुआ तो अपना रूप बदल लेते हैं। इन अ-चर मूल्यों को ही किसी राज्य का संविधान उसका बुनियादी ढाँचा (basic structure) बताते हुए अपरिवर्तनशील कहता है। वस्तुत: अ-चर मूल्य सभ्यता और संस्कृति के उस स्थिर बिंदु का निर्माण करता है जिस बिंदु के परिप्रेक्ष्य में चर मूल्यों के बदलाव की पैमाइश होती है। राज्य की नमनीयता की सीमा रेखा के अंदर सत्तावीहीन साधारण जनता की ओर से बदलाव का दबाव बढ़ जाने पर राज्य चर मूल्यों में बदलाव को तो स्वीकार कर लेता है, लेकिन अचर मूल्यों की अपरिवर्तनीयता को जी जान लगाकर बनाये रखता है। सत्ता यह काम कभी राष्ट्रवाद के नाम पर करती है तो कभी संस्कृति और सभ्यता के नाम पर करती है। सत्ता का राष्ट्रवाद अक्सर कुत्सित राष्ट्रवाद का ही नमूना होता है जो जनता और राष्ट्र के व्यवच्छेदन से जन्म लेता है। यह राष्ट्रवाद कुत्सित इसलिए होता है कि यह राजा और प्रजा या शोषक और शोषितों के हितों के अंतर को भावुकता के अंतर्लेप से आच्छादित करते हुए व्यक्ति और समुदाय को अतार्किकता के वैचारिक दलदल में ले जाकर उनके हितों की हत्या करता है। राजा या शोषक के हितों को संपोषित करते हुए साधारण जन के स्वाभाविक देशप्रेम का दुरूपयोग करता है। कुत्सित राष्ट्रवाद की संस्कृति की समझ कच्ची होती है जिसका जन्म इतिहास की गलत व्याख्याओं के सहारे उनके अपने वर्ग-स्वार्थ को साधे रखने की आकांक्षा से होता है। यह कुत्सित राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास और देश के आर्थिक विकास के अंतर को ओझल ही नहीं कर देता है, बल्कि पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास की वेदी पर देश के आर्थिक विकास को न्यौछावर भी कर देता है। सोचने की बात है कि देश के लिए शहीद हो जानेवालों और ताबूत-तहलका में लिप्त लोगों का राष्ट्रवाद एक ही कैसे हो सकता है। हम समझ सकते हैं कि राष्ट्र के साथ व्यक्ति और समुदाय के संबंधों को स्पष्ट रूप से सुपरिभाषित किए बिना फैलाया गया कुत्सित राष्ट्रवाद न सिर्फ भ्रामक होता है, बल्कि आर्थिक शोषण के साथ ही लोगों के देशप्रेम की निश्च्छल भावनाओं का भी शोषण करता है। इस तरह, अंतत: लोगों को देश से उनके स्वाभाविक अपनत्व और जुड़ाव को बाधित करता हुआ उन्हें `कोऊ नृप होहिं, हमहिं का हानी' के भावबोध से उत्पन्न अलगाव में डालकर देश को गुलामी के जाल में धकेल देता है। इस ऐतिहासिक कटु स्वाद का अनुभव हम से अधिक और किसे है! इस तरह से हम देख सकते हैं कि राष्ट्रवाद का बाना पहनकर किस प्रकार उपनिवेशवाद, चाहे वह आंतरिक हो या बाहरी ही क्यों न हो, हमारे जीवन में प्रवेश करता है। ध्यान रहे, जिस प्रकार

राष्ट्रवाद का कोई एक ही स्तर या रूप नहीं होता उसी तरह उपनिवेशवाद का भी कोई एक ही स्तर या रूप नहीं हुआ करता है। बदलाव की गति-मति को जानने के लिए इस सावधानी के साथ ही सही दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है कि स्वदेशी और विदेशी का मामला किसी सरल रेखा के दो किनारों पर पड़नेवाले स्पष्ट ध्रुवांत बिंदु की तरह का नहीं हुआ करता है। मुख्य बात है सत्ताधारी सत्तावान विशिष्ट वर्ग का अपना वर्ग-स्वार्थ, ये सत्ताधारी सत्तावान विशिष्ट वर्ग देशी भी हो सकते हैं और विदेशी भी हो सकते हैं। प्रसंगवश, इसी तरह इन से लड़नेवाली शक्ति भी देशी और विदेशी दोनों ही हो सकती है। जो हो, इस वर्ग-स्वार्थ के आधार पर ही सत्ताधारी सत्तावान विशिष्ट वर्ग चर और अचर मूल्यों को तय करता है; जो मूल्य उसके वर्ग-स्वार्थ को साधने में चिरकाल के लिए सहायक होते हैं उन्हें वह अ-चर मूल्य बताता है और जो मूल्य अल्पकाल तक ही उनके वर्ग-स्वार्थ को साधने में सहायक होते हैं उन्हें वह चर मूल्य बताता है। सत्ता अचर मूल्यों को राज्य के बुनियादी ढाँचों का ही नहीं सभ्यता के बुनियादी ढाँचों का भी अंगीभूत बना देती है। जो मूल्य उसके वर्ग-स्वार्थ को साधने में किसी भी तरह से सहायक नहीं होते हैं उन्हें वह मूल्य ही नहीं मानता है। आजकल एक मुहावरा बहुत जोर से चला हुआ है कि सरकार को व्यवसाय नहीं करना चाहिए। बात सही है। लेकिन सरकार व्यवसाय कब कर रही थी! सरकार तो सिद्धांतत: जनसेवा का काम कर रही थी। व्यवसाय का मकसद होता है लाभ और सेवा का मकसद होता है हित। क्या लाभ और हित के अंतर से व्यवसाय और जनसेवा के अंतर को नहीं समझा जा सकता है? नहीं समझा जाना चाहिए? हित की अनदेखी की जायेगी तो लोक-कल्याणकारी राजय की उस उदात्त संकल्पना का क्या होगा जिस संकल्पना के बारे में समाजवादी श्रम-शक्ति की उपस्थिति में साम्राज्यवादी धन-शक्ति बढ़-चढ़ कर डींग हाँकती थी। लोक-कल्याण का संकल्प लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था का अचर मूल्य या बुनियादी ढाँचा क्यों नहीं है? अगर है तो क्या सरकार को यह बताना नहीं चाहिए कि आगे से वह लोक-कल्याण का अपना दायित्व कैसे निभायेगी? समझ में आने लायक ढंग से बिना यह बताये सरकार को तथाकथित व्यवसाय से बाहर आ जाने के स्वैच्छिक निर्णय को संवैधानिक मान्यता कैसे मिल सकती है? सबसिडी को सभ्यता के भूत की तरह पेश करनेवाले अमेरिका के अपने यहाँ सबसिडी के क्या हाल हैं? हमें यह सब नहीं जानना चाहिए? सबसिडी जनता के पैसे के ही लेखाशीर्षों में होनेवाले परिवर्तनों से दिया जाता है। तात्पर्य यह कि इस बार के बदलाव की पहल सत्ता के शिखर से हुई और सभ्यता के अ-चर मूल्यों की नाभिकीयता में भारी विचलन पैदा करने के लिए कृतसंकल्प है। यह सभ्यता को स्पष्टत: दो भागों में विभाजित कर साधारण जनता को उप-मानव या साफ कहें तो साधारण मानव को फिर से बानर बना देना चाहती है, इस अर्थ में यह मनुष्य के राजनीतिक इतिहास को ही नहीं उसके जैविक विकास के इतिहास को भी पलट देना चाहती है। सभ्यता के प्रभुओं को विश्वास है कि यह काम वे विशाल जनता की उपेक्षा ही नहीं विरोध करते हुए भी तकनीक के बल पर कर ले जायेंगे। विज्ञान का सहारा लेकर साधारण जनता को अज्ञान के कूप में धकेल देने में सफल हो जायेंगे। निर्विघ्न होकर सभ्यता का सारा खीर खुद मजे से खायेंगे। उन्हें यह पता नहीं है कि यह उनके लिए टेढ़ी खीर ही साबित होगी।

चूँकि, इस बदलाव का संबंध रोजगारहीन विकास तथा उत्पादन की पद्धति और उसके लाभ एवं हित के सामाजिक वितरण की प्रक्रिया से बहुत ही गहरा है।इसलिए इस बदलाव के विरोध को समझने के लिए भी रोजगार, विकास,उत्पादन की पद्धति और उसके लाभ एवं हित के सामाजिक वितरण की प्रक्रिया से जुड़े अन्य मानवीय उपक्रमों का संदर्भ लेना अनिवार्य है।आज की स्थिति पिछली शताब्दी में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के आकार पाने की स्थिति से बहुत मिलती है। इन दोनों स्थितियों में मात्रात्मक अंतर तो है लेकिन गुणात्मक अंतर बहुत कम है। अगर स्वतंत्रता आंदोलन को याद किया जाये और भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की परतों को समझने की कोशिश की जाये तो उसके पीछे घनीभूत श्रमिक असंतोष की पहचान तुरंत हो जाती है। ध्यान में होना चाहिए कि जिस समय `धारा-सभा' में भगत सिंह के नेतृत्व में बम फेका गया था उस समय उस धारा-सभा में श्रमिक विरोधी ट्रेडर्स डिस्प्यूटस बिल विचाराधीन था। आज भी देखें तो श्रम-सुधार के नाम पर हमारे राजनेता श्रम-विरोधी, जो असल में जनविरोधी ही है, कानून बनाने पर आमदा हैं। बिडंबना ही है कि राजनीतिक सुधार के लिए जो राजनेता जरा भी तैयार नहीं हैं हमारे वे ही राजनेता श्रम-सुधार की चिंता में दुबले हुए जा रहे हैं। इतिहासकार सुमित सरकार रोजगार के घटते अवसर और श्रमिकों के शोषण के परिप्रेक्ष्य में

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान श्रमिक आंदोलनों और ट्रेड यूनियनों की सकारात्मक भूमिका पर गंभीरता से विचार करते हैं। ट्रेड यूनियनों की यह सकारात्मक भूमिका आज भी अपेक्षित है। ट्रेड यूनियनों के समझदार नेता बदली हुई परिस्थिति में अपनी इस सकारात्मक भूमिका के लिए बिना समय गँवाये तैयार हो रहे हैं। जब सारी चीजों में बदलाव आ रहा है तो ट्रेड यूनियनों के कार्य-क्रम में इस बदलाव के साथ संवादी संबंध बनाये रखने के लिए अपनी नई भूमिका को पहचानना होगा। समझा जा सकता है कि नई अर्थनीति अपनी आकांक्षा में नई न होकर बिल्कुल पुरानी ही है। ट्रेड यूनियन को भी अपनी आकांक्षा में आजादी के संघर्षों के दौरान निभाई गई अपनी भूमिका के प्रति उन्मुख चाहिए।सामने जो संघर्ष है वह रोजी-रोटी के संघर्ष के साथ ही हआजादी की नई-नई मंजिलों को भी हासिल करने का संघर्ष है। पूरी दुनिया में ट्रेड यूनियन नवोन्मेष के दौर से गुजर रही है। लड़ाई पूँजी और श्रम के बीच है। श्रम-शक्ति ही जन-शक्ति है।अब ट्रेड यूनियन की भूमिका मजदूर और प्रबंधन के बीच वेतन-भत्ते, सुलह-सफाई और समझौते तक सीमित न होकर देश की अर्थनीति को जनपक्षधर बनाये रखने तक फैल गया है। नहीं भूलना चाहिए कि ट्रेड यूनियन वस्तुत: अपने देश की उत्पादक जनता का ही संगठन होता है। वह श्रमिक बाद में होता है, नागरिक पहले होता है। नागरिक और श्रमिक एक ही सामाजिक व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। उत्पादन से सीधे जुड़े होने के कारण श्रमिक अधिक प्रभावी नागरिक होता है, स्वाभाविक ही हे कि उसकी प्रतिरोधक क्षमता भी बहुत प्रभावी होती है। आज के ट्रेड यूनियन को नागरिक और श्रमिक दोनों की भूमिका को न सिर्फ एक साथ समझना है बल्कि उनमें समन्वय स्थापित कर दोनों ही भूमिका को परस्पर प्रतिपूरक बनाना है। ट्रेड यूनियन यह काम कर सकते हैं। क्योंकि ट्रेड यूनियन अपनी बनावट में ही मजदूरों के बीच विभाजन की किसी भी प्रक्रिया के खिलाफ होते हैं, चाहे वह विभाजन धर्म के आधार पर हो या क्षेत्र के आधार पर हो। प्रसंगवश गुजरात नरसंहार का उदाहरण लें। जिन क्षेत्रों में ट्रेड यूनियनें कमजोर थीं या किसी भी कारण से अनुपस्थित थीं वहाँ जिस तेजी से नरसंहार करवाने में कुत्सित ताकतें कामयाब हुईं वैसी ही सफलता उन्हें उन क्षेत्रों में नहीं मिलीं जहाँ प्रभावी ट्रेड यूनियनों का असर था। क्योंकि ऐसी किसी भी चेष्टा का माकूल उत्तर देना ट्रेड यूनियनों को आता है।

देश की लगभग 40 प्रतिशत जनता हिंदी भाषी है। हिंदी भाषी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के बहुत सारे उपक्रम हैं। उन्हें बचाये रखने में इस क्षेत्र के ट्रेड यूनियनों की बड़ी भूमिका है। न सिर्फ उन्हें बचाये रखने में बल्कि अपने-अपने क्षेत्रों में बदलाव की इस पूँजीवादी आँधी के बीच सामाजिक संतुलन और शांति बनाये रखने में भी इनकी बड़ी भूमिका है। ये ट्रेड यूनियनें हर तरह के काम से जुड़े लोगों की हो सकती हैं। हिंदी प्रदेशों में राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, श्रमिक नेतृत्व की गुणवत्ता और उसके सामाजिक बनाव को ध्यान में रखें तो ट्रेड यूनियन का दायित्व और बढ़ा हुआ प्रतीत होगा। जीवन के हर क्षेत्र में नेतृत्व की गुणवत्ता में प्रभावकारी वृद्धि के लिए हिंदी प्रदेश को एक साथ सक्रिय होना है। असल संघर्ष तो यहीं होना है। तरुणों के डाकू बन जाने के दिन हम पर लादे जा रहे हैं।बार-बार मन उदास हो जाता है। उदास मन को बार-बार समझाता हूँ कि मन थोड़ा धीर धरो कि अभी समर शेष है। सवाल यह है कि क्या हम तैयार हैं?

नोटः चिंता की बात है कि विभिन्न कारणों से इधर ट्रेड यूनियनें न सिर्फ कमजोर हुई हैं, बल्कि अपनी विश्वसनीयता कायम रखने में भी पिछड़ रही हैं। कोलकाता के एक प्रेस काँफ्रेंस में एनडीए के माननीय वित्त मंत्री, श्री यशवंत सिन्हा ने 'आर्थिक सुधार' की परियोजनाओं को लागू करने में ट्रेड यूनियनों को मुख्य अवरोधक माना था। ध्यान में है कि पिछली बार की आर्थिक मंदी की पूरी तरह चपेट में आने से भारत की अर्थव्यवस्था के बहुत हद तक बच जाने पर एक 'बड़े विचारक' के कहने का आशय यह था कि वे भारत के वामपंथियों को इसका श्रेय नहीं दे सकते, इसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करते हैं। नागरिक जमात के रूप में ट्रेड यूनियनों की भूमिका अपनी समझ और सक्रियता की नई चुनौतियों के सामने है।